

## दलित साहित्य : आशय, आंदोलन और अवधारणा



डॉ. यम चन्द्र  
सहायक प्रोफ़ेसर  
भारतीय भाषा केंद्र  
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान  
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय  
नई दिल्ली - 110067  
मोब. +91-9968293185

आधुनिक साहित्य के इतिहास में दलित साहित्य एक ऐसा साहित्य है जो क्षेत्र और भाषा की सीमाओं को लांघकर राष्ट्रीय संवेदना एवं सामूहिकता का बोध कराता है। भक्तिकाल के बाद आधुनिक काल की यह एक ऐसी परिघटना है जिसने साहित्य के मायने और मानदंडों को रूपांतरित और अर्थांतरित कर दिया है। इसी संदर्भ में यह एक राष्ट्रीय साहित्यिक आंदोलन है जो सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों के समानांतर चल रहा है। आधुनिकता के जिस नवजागरण या पुनर्जागरण की बात साहित्य के अंतर्गत की जाती है, उसका राष्ट्रीय स्वरूप नहीं बन सका था। हर क्षेत्र और भाषा का नवजागरण अलग-अलग था। महाराष्ट्र, बंगाल और हिंदी में एक ही स्थिति नहीं थी। बल्कि सच तो यह है कि हिंदी में जिस नवजागरण की बात की जाती है, उस नवजागरण का स्वरूप क्या था? वह कितना सार्थक और प्रासंगिक बन सका? यह शोध का विषय होना चाहिए, जबकि दलित साहित्य में अभिव्यक्त वेदना और चेतना ने भाषा और क्षेत्र की दीवारों को तोड़ दिया है। इसकी संवेदना राष्ट्रीय संवेदना बन चुकी है। विशेषतौर से हिंदी के लिए तो और भी गर्व की बात है कि दलित साहित्यांदोलन राष्ट्रभाषा हिंदी को समृद्ध और व्यापकता प्रदान कर रहा है। हिंदी के विशालतम भू-भाग में सृजित हो रही दलित रचनाएं भाषा का राष्ट्रीयकरण कर रही हैं। अहिंदी क्षेत्र की रचनाएं धड़ल्ले से हिंदी में अनुदित होकर भाषा और समाज की नवीन सर्जना कर रही हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार में लगे ढेर सारे सत्ता-प्रतिष्ठान, संस्थान और विभाग इतने लंबे अर्से से जो कार्य नहीं कर सके वह कार्य दलित साहित्य आंदोलन कर रहा है, फिर भी हिंदी के तमाम आलोचकों को दलित साहित्य महत्वहीन, कलाविहीन और अप्रासंगिक क्यों लगता है? जबकि बदलती सामाजिक-धार्मिक-साहित्यिक अवधारणाएं वर्चस्व को तोड़कर समता का नया विकल्प दे रही हैं। जाति-प्रथा और श्रेष्ठताबोध को तोड़कर बंधुता और स्वतंत्रता की संस्कृति का बीजारोपण कर रहा है दलित साहित्य। जरूरत है डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी पर आधारित दलित लेखन को समझने की। वैचारिकी से बाहर जाकर या भटकाव की स्थिति से गुजरने वाले दलित लेखकों-आलोचकों को मानदंड मान लेने की कूटनीति से मुक्त होकर ही दलित साहित्य को समझा जा सकता है। काव्य-संकलन, कहानी-संकलन, उपन्यास और नाटकों का प्रचुर मात्रा में प्रकाशन हो रहा है लेकिन हिंदी आलोचकों ने दलित लेखन को अभी भी आत्मकथा लेखन की बहस में उलझा रखा है। दलित लेखन सूझ-बूझ के साथ विकसित की गई असमान हिन्दू संस्कृति और परंपरा के बरक्स आंदोलनधर्मी तैवर के साथ अग्रसर है, जबकि तथाकथित मुख्यधारा का साहित्य और बुद्धिजीवी भारत की वर्चस्व एवं श्रेणीबद्धता की संस्कृति को बदलने के लिए प्रतिबद्ध होने की बजाय पाश्चात साहित्य की कला और सौन्दर्य में खोया हुआ है।

हिंदू धर्म की वर्णाश्रम-व्यवस्था पुनर्जन्म और कर्मफल पर टिकी हुई है। इसके अनुसार पूर्व जन्म में किए गए कर्म के आधार पर ऊंची या नीची जातियों में जन्म होता है, अर्थात् जाति स्वयं भगवान का करिश्मा है। दलितों के लिए निर्विकार भाव से सेवा करना आवश्यक बना दिया गया-यही उनकी मुक्ति का मार्ग माना जाता रहा है। जो अभी भी अवचेतन में गुलामी का पर्याय बना हुआ है। दलित साहित्य इस मानसिक गुलामी की सोच को बेनकाब करता है। भारतीय समाज-व्यवस्था की भेद भावपूर्ण क्रूर प्रणाली ने धार्मिक चोंगा पहनकर और मर्यादा का आवरण ओढ़कर ब्राह्मणवाद का रूप धारण किया; जिसने धार्मिक कर्मकांड, अंधविश्वास और जन्मना ऊंच-नीच की भावना को वैधता प्रदान किया। आज भी तमाम नियमों, कानूनों के बावजूद परम्परागत रूप में यह अमानवीय कुरीतियां भयानकता के साथ हमारे समाज में विद्यमान हैं। भुक्तभोगी समाज साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर इस अमानवीय एवं अवैज्ञानिक व्यवस्था के प्रतिरोध में खड़ा है, जिसका स्वरूप अखिल भारतीय दलित लेखन और आंदोलन में झलक रहा है।

भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था, जाति-पांति, अस्पृश्यता, शोषण, दमन और उत्पीड़न के खिलाफ प्रतिरोध की लंबी ऐतिहासिक परंपरा रही है। गौतम बुद्ध (ईसा पूर्व 563-483) ने अन्याय और वर्चस्व के विरुद्ध हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को चुनौती दिया था जो पूरे बौद्धकाल में विद्यमान रहा। चार्वाक, लोकायत और आजीवक जैसे लोकवादी भौतिक

दर्शन और अन्य श्रमण परंपराएं समय और काल परिवेश के अपने दबावों के फलस्वरूप तीव्रता और ठहराव से गुजरते हुए नया रूपाकार लेती रहीं हैं। यह लोकधर्मी परंपराएं प्रतिरोध की संस्कृति को सक्रिय बनाए रहीं। साहित्य में सिद्धों, नाथों और संतों की बानियों ने प्रतिरोध की संस्कृति को जीवित रखा जो विविध आयामों से गुजरते हुए वर्ण-व्यवस्था के बरक्स एक सशक्त आंदोलन और गम्भीर चिंतन की भावभूमि तैयार करती हैं। भले ही उसमें सामाजिक परिवर्तन का विकल्प न हो। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ज्योतिबा फुले और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डॉ० अम्बेडकर द्वारा चलाया गया सुव्यवस्थित एवं सुचिंतित सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आंदोलन दलित विमर्श और साहित्य आंदोलन का वैचारिक आधार बना जिसने आज सामाजिक परिवर्तन का विकल्प प्रस्तुत किया है।

हिंदू समाज की अधिकतम मान्यताएं दलितों के विरोध में खड़ी दिखाई देती हैं। भारतीय समाज में ऐसी अनेक कहावतें, मुहावरें और लोकोक्तियां हैं जो दलितों के प्रति घृणा और अपमान का भाव पैदा करती हैं। अक्सर ही लोगों से बात करते समय यह सुनने को मिल जाएगा— 'क्या मुझे चोर-चमार समझ रखा है।' एक कहावत है कि 'कोदो सावां अन्न नहीं, डोम चमार जन नहीं।' दैनंदिन जीवन में ऐसे मुहावरों की भरमार है। लोक-संस्कृति पर इतराने वालों को इस संदर्भ में आत्मंथन करना चाहिए। लोक कलाओं के प्रति उपेक्षा और संकीर्ण मानसिकता को उजागर करते हुए डॉ. तुलसी राम लिखते हैं कि "साहित्य कलाओं (लोक साहित्य तथा लोक कला) को इस वर्ण-व्यवस्था ग्रस्त समाज में कुछ जाति-विशेष से जोड़कर उनका उपहास करते हुए प्रायः उन्हें कला या साहित्य-क्षेत्र से दूर रखने का निरन्तर प्रयास किया जाता रहा है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश के कुछ लोक नृत्यों को चमार से 'चमरउवा', कहार से 'कहरवा', धोबी से 'धोबियउवा' आदि कहकर न सिर्फ उन्हें उपेक्षित किया जाता है, बल्कि असंस्कृत भी समझा जाता है, जबकि ये सारी परम्पराएं भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की परम्परा से जुड़ी हुई हैं। इन मान्यताओं में दलितों के प्रति जो अपमान, तिरस्कार और घृणा का भाव है, उसकी अभिव्यक्ति दलितों के नामकरण में भी परिलक्षित होती है।"<sup>1</sup>

हिंदू-व्यवस्था की अमानवीयता का परिणाम इतना भयानक है कि आज भी भारतीय समाज हजारों जातियों में बंटा हुआ है। खंड-खंड में बंटे हुए गांव अलग-अलग राष्ट्र का बोध कराते हैं। जातिगत भेदभाव इस वैज्ञानिक युग में आज भी जड़ जमाए हुए हैं। दलित साहित्य इस जड़ को उखाड़ फेंकने के लिए कृतसंकल्प है। ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में, "भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर जो बंटवारा हुआ, उसकी ही देन है जातिभेद। जो असमानता, वर्चस्व और शोषण पर आधारित है। वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर यह मानने को तैयार ही नहीं हैं कि विकास को रोक देने वाली यह व्यवस्था प्रगति पथ को सीमित कर देती है और समाज को संकीर्णता में बांध देती है।"<sup>2</sup> डॉ. अंबेडकर ने गांव को भारतीय गणतंत्र की अवधारणा का शत्रु माना था। उनके अनुसार हिंदुओं की ब्राह्मणवादी और पूंजीवादी व्यवस्था का जन्म भारतीय गांव में ही होता है। डॉ० अंबेडकर का कहना है कि भारतीय गांव हिंदू-व्यवस्था के कारखाने हैं। उनमें ब्राह्मणवाद, सामंतवाद और पूंजीवाद की साक्षात् अवस्थाएं देखी जा सकती हैं। उनमें स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। भारत सरकार के गृह मंत्रालय के 'राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो' 2011 के मुताबिक जिस भारत में प्रत्येक दिन 27 जातिगत अत्याचार, प्रत्येक सप्ताह 13 दलितों की हत्या, प्रत्येक सप्ताह 5 दलित घरों का जलाया जाना, प्रत्येक सप्ताह 6 दलितों का अपहरण, प्रत्येक दिन 5 दलित महिलाओं का बलात्कार, प्रत्येक दिन 11 दलितों की पिटाई और प्रत्येक 18 वें मिनट दलितों के साथ अत्याचार होता है। फिर भी साहित्य के मर्मज्ञ, आलोचक और चिंतक खामोश हैं। फुले-अम्बेडकरवादी वैचारिकी इस खामोशी को तोड़ती है और दलित साहित्य आंदोलन का मार्ग प्रशस्त करती है।

दलित साहित्य की गूंज अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर भी सुनी जा सकती है। कनाडा के टोरंटो विश्वविद्यालय में दलित साहित्य पढ़ाया जा रहा है। भारत के बौद्धिकों, चिंतकों और विमर्शकारों को मंथन करने की जरूरत है कि यहां हजारों वर्षों से जारी यातना, दमन और शोषण का अनवरत सिलसिला अंतर्राष्ट्रीय पटल पर भारतीय सभ्यता-संस्कृति की कौन सी छवि गढ़ रहा है? जहां अभी भी विभिन्न भाषाओं-बोलियों और संस्कृतियों के बीच वर्ण, जाति, धर्म और वर्चस्व की कूरताएं एवं विद्रूपताएं जड़ जमाए हुए हैं। हम 21वीं शताब्दी के किस लोकतांत्रिक युग में सांस ले रहे हैं जहां संवेदनहीनता का सन्नाटा पसरा पड़ा है। दलित साहित्य आंदोलन इस सन्नाटे को भंग करता है और उन कूरताओं, विद्रूपताओं और विडम्बनाओं के खिलाफ वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ लेखन कर रहा है। जिन्हें सदियों से अपमान, अनादर, घृणा, हिंसा, अत्याचार एवं उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा है, वे अहिसक तरीके से आत्मसम्मान, गरिमा, अधिकार, भागीदारी और समानता के लिए लेखन कर रहे हैं। बिखरे और टूटे हुए समाज को जोड़ने के लिए लिख रहे हैं। जरूरत है इनकी आवाजों को अपनेपन के साथ सुनने की और सामाजिक परिवर्तन के लिए सहयोगी भूमिका निभाने की, जिससे एकता और अखंडता अक्षुण्ण रह सके। 21वीं सदी के वैज्ञानिक एवं तकनीकी क्रांति के दौर में भारत अभी भी समतापरक समाज नहीं बन सका है। अमानवीय और असंवेदनशील कृत्य अब तक बदस्तूर जारी हैं। भारत में अभी भी सिर पर मैला ढोने की प्रथा एक विवशता बनी हुई है। सरकारी और गैर सरकारी आंकड़े घृणा, हिंसा और असमानता की दास्तां बयां कर रहे हैं। भारतीय समाज की असहिष्णुता और संवेदनहीनता राष्ट्र की तरक्की में बाधक हैं। भारत को यदि दुनिया के

विकसित देशों की कतार में खड़ा होना है तो सबसे पहले सामाजिक-आर्थिक विषमता को मिटाकर एक समतापरक व्यवस्था के लिए प्रतिबद्ध होना होगा। दलित साहित्य आंदोलन फुले और डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी को आधार बनाकर समतामूलक व्यवस्था की जमीन तैयार कर रहा है। साहित्य की सभी विधाओं में लिखी जा रही दलितों की रचनाएं दलित चेतना का उद्घोष करती हैं। इस अर्थ में दलित लेखन एक आंदोलन है। इसको परंपरागत मानदंडों के आधार पर परखना और समझना अन्यायपूर्ण और असंगत होगा। दलित साहित्य की आधारभूमि, वैचारिक पृष्ठभूमि और दलित चेतना की निर्मिति को ठीक से न समझ पाने के कारण आलोचकों को दलित साहित्य में अंतर्विरोध दिखाई देने लगता है। आज जरूरत है भारतीय समाज की जटिलताओं और दलित साहित्य की वैचारिकी को गहरे आत्मबोध के साथ समझने, बूझने और गुनने की। दलित साहित्य एक स्वप्न, एक दृष्टि और एक विकल्प लेकर आया है। उसके पास अपना इतिहास है। वह हिंसा और घृणा आधारित व्यवस्था को समता और करुणा में बदलना चाहता है। दलित साहित्य आंदोलन को व्यापकता में समझने के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर विश्लेषण लाजिम है—

- (1) दलित का आशय
- (2) दलित चेतना/दलित आंदोलन
- (3) दलित साहित्य
- (4) दलित साहित्य की अवधारणा

#### दलित का आशय

‘दलित’ और ‘दलित साहित्य’ अपनी अर्थवत्ता, व्यापकता, सार्थकता तथा अस्मितागत बोध के रूप में आज विद्वज्जनों के मध्य साहित्यिक विमर्श के विषय बने हुए हैं, अतः ‘दलित का आशय’ व्यापक दृष्टि और बहस की मांग करता है। डॉ. अम्बेडकर का निष्कर्ष था कि “भारतीय समाज का ताना-बाना अभी जाति-व्यवस्था पर आधारित है और भारतीय समाज के विभिन्न स्तरों में परिवर्तन का निर्धारण भी जाति के आधार पर होता है। प्रत्येक हिंदू (यहां इसका प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जा रहा है) जिस जाति में जन्म लेता है उसकी वह जाति ही उसके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक जीवन का निर्धारण करती है। यह स्थिति मां की गोद से लेकर मृत्यु की गोद तक रहती है।”<sup>3</sup> भारतीय समाज व्यवस्था में जाति निर्धारण के संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर ने जो अवधारणा दी है वह गहरे चिंतन-मनन और शोध के आधार पर है। उनकी यह दृष्टि हिन्दू व्यवस्था के बरक्स समतापरक व्यवस्था की आकांक्षा को ध्यान में रखते हुए व्यापक संदर्भों से जुड़ी हुई है। उनका मानना था कि जाति-व्यवस्था संपूर्ण भारतवर्ष के विकास में अवरोधक है। इसका खात्मा सभी के लिए हितकर है। उनका संपूर्ण चिंतन और आंदोलन समग्र मनुष्य और समाज के लिए था जिससे दलित साहित्यांदोलन गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। इन सरोकारों को ध्यान में रखते हुए ‘दलित’ शब्द की व्यापकता को समझा जाना चाहिए। यह भी ध्यान में होना चाहिए कि दलित पैंथर आंदोलन के दौरान इस शब्द की व्याप्ति स्त्री, आदिवासी, पिछड़े और अन्य उपेक्षित-वंचित तक थी। धीरे-धीरे समयांतराल में यह शब्द साहित्य, समाज और राजनीति में अपना अर्थ बदलता गया। इस आलोक में ही दलित शब्द के आशय को समझा जाना चाहिए। कोई भी परिभाषा स्थाई नहीं होती है। समय, काल और परिवेश के अनुसार उसका अर्थांतर होता रहता है, लेकिन वैचारिकी के सरोकारों और ऐतिहासिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए ही दलित शब्द को व्याख्यायित किया जाना चाहिए। मराठी से हिन्दी तक आते-आते दलित शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं देखने को मिलती हैं जिसका तार्किक और वैचारिक विश्लेषण आवश्यक है।

डॉ. श्यामराज सिंह ‘बेचैन’ दलित शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं—‘दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।’<sup>4</sup> इसी प्रकार कंवल भारती का मानना है कि ‘दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया और जिस पर सूछतों ने सामाजिक निर्याग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है, और इसके अंतर्गत वही जातियां आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियां कहा जाता है।’<sup>5</sup>

उपर्युक्त व्याख्याएं/परिभाषाएं दलित शब्द को सीमित करती हैं। बहुजन या बहुसंख्यक समुदायों को दलित साहित्यांदोलन की वैचारिकी से जोड़ नहीं पाती है। नेतृत्व और भागीदारी का सवाल दलित के संदर्भ में बहुत बड़ा सवाल है। राजनीतिक अर्थों में भी दलित की व्यापकता को समझा जाना चाहिए।

मोहनदास नैमिशराय का मानना है कि “दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है। लेकिन इस दोनों शब्दों में पर्याप्त भेद भी है। दलित की व्याप्ति अधिक है, तो सर्वहारा की सीमित। दलित के अंतर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है, तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है, लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो

सकते...अर्थात् सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है, जबकि दलित विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।<sup>6</sup> मराठी कवि नारायण सूर्वे का कहना है कि 'दलित' शब्द की मिली जुली परिभाषाएं हैं। इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं, समाज में जो भी पीड़ित हैं, वे दलित हैं।<sup>7</sup> शरण कुमार लिंबाले 'दलित' शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं: 'सर्वप्रथम दलित साहित्य में 'दलित' शब्द की व्याख्या निश्चित करनी होगी। दलित केवल हरिजन और नव बौद्ध नहीं। गांव की सीमा से बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियां, आदिवासी, भूमिहीन खेत मजदूर, श्रमिक कष्टकारी जनता और यायावर जातियां सभी की सभी 'दलित' शब्द से व्याख्यायित होती हैं। दलित शब्द की व्याख्या में केवल जाति का उल्लेख करने से नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों को भी शामिल करना होगा।'<sup>8</sup>

डॉ. अंबेडकर को दलित आंदोलन का प्रेरक और प्रवर्तक मानने वाले सुविख्यात मराठी दलित साहित्यकार डॉ. गंगाधर पानतावणे 'दलित' शब्द को व्याख्यायित करते हैं: "दलित क्या है? 'दलित' कोई जाति नहीं बल्कि परिवर्तन और क्रांति का प्रतीक है। दलित मानवतावाद में विश्वास करता है। परंतु वह ईश्वर के अस्तित्व, पुनर्जन्म, आत्मा तथा उन तथाकथित धार्मिक ग्रंथों को अस्वीकार करता है जो भेदभाव की शिक्षा देते हैं। वह भाग्य तथा स्वर्ग की अवधारणाओं को भी अस्वीकार करता है, क्योंकि ये ही विचार उसको दासत्व का बोध कराते रहे हैं। वह इस देश में दबाए सताए हुए समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जो वर्षों से जानवर से भी बदतर जिंदगी जीने को अभिशप्त हैं। वह विरोध करता है एक बहुत ही सूझ-बूझ के साथ विकसित की गई हिंदू सामाजिक-व्यवस्था का जिसने कि मानव के रूप में उसके अस्तित्व को कभी स्वीकार ही नहीं किया तथा मानवीय गरिमा का निरन्तर निरादर किया गया। जिसके मृत-प्राय शरीर को पीड़ा और वेदना का संत्रास झेलना पड़ा। यही अलगाववाद का बोध उन हजारों दलितों के पुनर्जागरण का अक्षयस्रोत है।"<sup>9</sup>

समकालीन हिंदी साहित्य आंदोलन में दलित शब्द नवीन अर्थवत्ता के साथ प्रयुक्त हो रहा है। ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में – "दलित" शब्द हमारे लिए एक बहुत ही प्रेरणादायक शब्द है। हम इसे दल के साथ जोड़ते हैं, जो सामूहिक तौर पर कार्य करता है, जीवन को सामाजिक तरीके से जीता है और समाज से अलगाव दूर करता है। इसी के आधार पर हमने 'दलित' शब्द को स्वीकार किया है और दलित एक आंदोलन का प्रतीक है हमारे लिए। और ऐसा पहली बार हुआ है इतिहास में कि दलितों ने अपने लिए एक अपना शब्द चुना है। अभी तक वे अपने लिए दूसरे के दिए शब्दों को स्वीकार करते रहे हैं। यहां तक कि उनके बच्चों के नाम भी दूसरे रखते थे। अपने नाम रखने के लिए भी वे स्वतंत्र नहीं थे। लेकिन यह पहली बार हुआ है कि उन्होंने अपने लिए एक शब्द चुना है, जो उनके लिए एक संघर्ष का प्रतीक है।"<sup>10</sup>

'दलित' शब्द की तमाम परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गंगाधर पानतावणे, ओम प्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, नारायण सूर्वे और शरण कुमार लिंबाले द्वारा 'दलित' शब्द को व्यापक अर्थों में व्याख्यायित किया गया है। गंगाधर पानतावणे 'दलित' शब्द के अर्थ को वैचारिक स्वरूप प्रदान करते हुए इसकी अवधारणा को भी स्पष्ट करते हैं। कहा जा सकता है कि 'दलित' शब्द अस्मितबोध का सूचक है। जो साहित्य के साथ जुड़कर एक ऐसी साहित्यिक धारा की ओर संकेत करता है, जो मानवीय सरोकारों और संवेदनाओं की यथार्थवादी अभिव्यक्ति है। जनमानस और मीडिया की दृष्टि में दलित शब्द भारतीय समाज के वंचित एवं हाशिए की जातियों-उपजातियों की सामुदायिक पहचान के रूप में भले ही जाना जाता हो लेकिन ऐतिहासिक सच यह है कि दलित विमर्श एवं साहित्य के संदर्भ में दलित शब्द स्वयं में चेतना का प्रतिरूप है। यह सिर्फ किसी विशेष जाति-उपजाति से सम्बद्ध न होकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति हेतु अम्बेडकरवादी एवं अन्य परिवर्तनकारी विचारधारात्मक वर्गों के संघर्ष का प्रतीक है। भारत की सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक व्यवस्था की संरचना में उपेक्षित, अपमानित, प्रताड़ित और अधिकारों से वंचित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला दलित शब्द सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा का पर्यायवाची बन चुका है। असमानता, अन्याय, ऊंच-नीच, अस्पृश्यता तथा उत्पीड़न की शिकार वे सभी जातियां जो हिन्दू व्यवस्था के अंदर चिह्नित की गई हैं, के वर्ग समूह को दलित वर्ग के रूप में आज पहचान मिली है। इसका ऐतिहासिक महत्व यह है कि दलित शब्द संबंधित वर्ग का अपना स्वयं का चेतनागत (सचेतन) चुनाव है जो इतिहास बोध से गहरे तक जुड़ा है। दलित पहचान से भिन्न दूसरे वर्ग, जाति, समुदाय या व्यक्ति द्वारा विहित अतिशूद्र, पंचमा, चांडाल, अन्त्यज, अछूत, अस्पृश्य तथा हरिजन जैसे शब्दों को नकार कर दलित शब्द प्रचलन में आया है। निष्कर्षतः यह शब्द हिस्सेदारी और मानवीय अधिकारों की मांग एवं संघर्ष का प्रतीक बन चुका है, साथ ही तमाम जातियों-उपजातियों में विभाजित समाज का वर्ग समूह बनने की ओर अग्रसर है। आज अंतर्राष्ट्रीय पटल पर जाति, नस्ल, समुदाय तथा हाशिए के अन्य लोगों के समान अधिकारों की लड़ाई और किसी भी प्रकार के भेदभाव के विरोध एवं संघर्ष में 'दलित' सहयोगी शब्द का स्थानापन्न बन चुका है।

दलित चेतना/दलित आंदोलन

दलित चेतना का दार्शनिक और वैचारिक आधार का स्रोत गौतम बुद्ध ही रहे हैं। बुद्ध भारतीय इतिहास के प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था के औचित्य को चुनौती दी और उसे अन्यायपूर्ण ठहराया। श्रावस्ती प्रवास के दौरान सुनीत नामक भंगी को अपने संघ में शामिल करके दलितोद्धार का वह मार्ग प्रशस्त किया जो आने वाले युगों-युगों तक दलित-मुक्ति का मार्ग अवलोकित करता रहा। परंतु आधुनिक दलित चेतना के जनक डॉ. अंबेडकर को ही माना जाता है क्योंकि इन्होंने एक व्यवस्थित सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विकल्प दिया। साथ ही स्त्री, उपेक्षित और पिछड़े वर्ग के लिए सम्मान, गरिमा, अधिकार और न्यायपूर्ण व्यवस्था सुनिश्चित कराया। उनकी दीक्षा के दौरान ली गई 22 प्रतिज्ञाएं दलित चेतना की उत्प्रेरक हैं।

दलित चेतना, इसकी मूल प्रेरणा और आंदोलन को हिंदी के दलित लेखक, कवि और आलोचक ओम प्रकाश वाल्मीकि के कथनों से समझा जा सकता है: "दलित चेतना एक प्रति सांस्कृतिक चेतना है, बल्कि एक वैकल्पिक चेतना भी है। इसलिए विद्रोही है। इस चेतना की जड़ में भारतीय सामाजिक संरचना है। जो न सिर्फ जाति पर आधारित है बल्कि इसे धार्मिक वैधता भी प्रदान करती है। जाति-व्यवस्था सामाजिक दुराव के सिद्धांत पर आधारित है। यह हमारे सामाजिक संबंधों को ही नहीं बल्कि धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पक्षों को भी प्रभावित करती है। यह गुलामी की संपूर्ण व्यवस्था है, हिंदू समाज-व्यवस्था में प्रारंभ से ही धर्म की प्रधानता और अर्थ गौण रहा है। व्यावहारिक स्तर पर हिंदुत्व की जो अवधारणा आम आदमी तक पहुंचती है, वह बहुत हद तक जातीय आचार-व्यवहार और संस्कार से परिसीमित हुई रहती है। स्वतंत्रता के बाद भी यह स्थिति किसी न किसी रूप में बनी हुई है। बदलाव के बावजूद दलित वर्ग को मूलभूत सुविधाओं से वंचित रखने का प्रयास जारी है।"<sup>11</sup>

समकालीन संदर्भों में जाति-पांति, ऊंच-नीच, छुआछूत, लिंगभेद, भाग्य-भगवान, कर्मकांड, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, पाखंडवाद, पुरोहितवाद, अंधविश्वास तथा अन्य ब्राह्मणवादी वर्चस्व का दलित चेतना विरोध करती है। दलित साहित्य में दलित चेतना का यही मूल आधार और प्रमुख स्वर है जो यथार्थवादी को नकारकर नवीन मानदंडों और सौन्दर्यबोध में रूपांतरित होता है। दलित चेतना के बोध और विकास की पृष्ठभूमि एवं निर्मिति में बाबा साहेब का जीवन संघर्ष, दर्शन और आंदोलन एक आधारशीला है जो मानवीय गरिमा से संपृक्त है। ज्योतिबा फुले एवं अन्य परिवर्तनकारी आंदोलनों की परंपरा से भी दलित चेतना का स्वरूप बना है।

ज्योतिबा फुले ने अपनी पत्नी सावित्रीबाई के साथ पहली बार 1848 ई0 में महिलाओं के लिए एवं 1851 ई0 में अछूतों के लिए स्कूल खोला। डॉ. अंबेडकर द्वारा सन् 1927 में महाड़ आंदोलन एवं मनुस्मृति दहन, सन् 1930-31 में नासिक का कालाराम मंदिर प्रवेश आंदोलन, 1930 में लंदन के प्रथम गोलमेज परिषद में दलितों के राजनैतिक अधिकारों की मांग, 1942 में नागपुर में 'शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन' के गठन के समय तीस हजार दलित महिलाओं की मौजूदगी में 'दलित महिला फेडरेशन' की स्थापना तथा 1945 में मुम्बई (तत्कालीन बंबई) में सिद्धार्थ कॉलेज, औरंगाबाद में मिलिन्द कॉलेज की स्थापना और 'शिक्षित बनो, संघर्ष करो, संगठित हो' का नारा ने दलित चेतना की वैचारिकी को आधारभूमि प्रदान किया। भारतीय संविधान के प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में डॉ. अंबेडकर ने दलित वर्गों के संवैधानिक अधिकारों को सुनिश्चित कर दलित चेतना का मार्ग प्रशस्त किया। 14 अक्टूबर 1956 को डॉ. अंबेडकर द्वारा बौद्ध धम्म की दीक्षा से दलित चेतना की विकास प्रक्रिया को गति मिली।

डॉ. अंबेडकर के परिनिर्वाण (6 दिसम्बर, 1956) के बाद 2 मार्च 1958 ई0 को मोरबाग, दादर मुम्बई में दलित लेखकों का प्रथम सम्मेलन, 27 नवम्बर 1967 ई0 में औरंगाबाद, महाराष्ट्र में 'मिलिन्द साहित्य परिषद' की स्थापना, 'अस्मिता' तथा बाद में 'अस्मितादर्श' नामक त्रैमासिक पत्रिका का निरंतर प्रकाशन, 9 जुलाई सन् 1972 ई0 को मराठी दलितों द्वारा 'दलित पैथर्स' की स्थापना तथा सन् 1972 में ही नामदेव ढसाल का महत्वपूर्ण दलित काव्य संकलन 'गोलपिठा' का प्रकाशन दलित साहित्य में दलित चेतना का प्रस्थान बिन्दु है। मराठी दलित काव्य का यह चेतनामयी स्वरूप कालान्तर में भारत की अन्य भाषाओं में विकासमान हुआ। आज भारत की लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में अंबेडकरवादी विचारधारा को केन्द्र में रखकर दलित चेतना का साहित्यिक रूप सामने आया है। दलित दृष्टि और चिंतन पर शोधरत अंग्रेज लेखिका एलिनॉर जिलियट के अनुसार -"1970 के शुरुआती दौर में मराठी आंदोलनों ने अंग्रेजी प्रेस द्वारा नोटिस लेने योग्य पर्याप्त महत्ता प्राप्त की-ये हैं दलित पैथर्स और दलित लिट्रेचर।"<sup>12</sup>

इससे यह विदित होता है कि दलित चेतना को मजबूती और दलित साहित्य को आंदोलन का रूप देने में दलित पैथर की महत्वपूर्ण भूमिका है। दलित चेतना की विकासमान स्थितियों को समझने के लिए दलित पैथर आंदोलन की व्यापकता और प्रतिबद्धता पर निगाह डालना जरूरी है। इस आंदोलन के संदर्भ में डॉ0 चंद्र कुमार वरठे ने अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य आंदोलन' में व्यापक दृष्टि डाली है। वे दलित पैथर आंदोलन का विस्तृत ब्यौरा देते हुए लिखते हैं -"दलित पैथर को जन्म दिया महाराष्ट्र के कुछ युवा मराठी (दलित) साहित्यकारों ने जिनके मन में दलितों के शोषण एवं

उत्पीड़न के प्रति रोष की चिंगारियां शोले बनकर भड़क उठीं। उन साहित्यकारों ने अपना आक्रोश एवं आवेग मात्र शब्दों के कागजी घोड़े नचाकर ही अभिव्यक्त नहीं किया, बल्कि उसे कार्य रूप देने के लिए एक संगठित रूप भी विकसित किया। दलित पैंथर उस युवा शक्ति का नाम है, जो मान, अपमान, सफलता, असफलता की चिन्ता किये बिना जिस समाज में पैदा हुए उस समाज की मुक्ति के लिये संघर्ष करना अपना कर्तव्य समझता है।<sup>13</sup> दलित पैंथर नागपुर प्रदेश द्वारा प्रसारित (मराठी) पैम्फलेट की विषय-वस्तु कुछ इस प्रकार की है:

दलित के मुक्ति संघर्ष में सक्रिय सहयोग के लिये दलित पैंथर का आह्वान—

“भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त, स्वातंत्र्य, समता, बन्धुत्व एवं न्याय इन मानवीय मूल्यों का उपयोग जहां हम कर नहीं सकते, वह हमारा राष्ट्र कैसे हो सकता है? जहां हमारी मां-बहिनों को नग्न करके उनको सरेआम घुमाया जाता है, (सिरसगांव, वामणगांव) वह हमारा राष्ट्र कैसे हो सकता है? जहां सामूहिक रूप से हमें जिन्दा जलाया जाता है (किलावेनमणी, बेलछी) वह राष्ट्र हमारा कैसे हो सकता है?”<sup>14</sup>

डॉ. चंद्र कुमार वरठे के शब्दों में— “हुआ यूं कि मराठी के एक लेखक श्री राजा ढाले का ‘काला स्वतन्त्रता दिवस’ शीर्षक लेख मराठी साप्ताहिक ‘साधना’ में प्रकाशित हुआ यही लेख, बल्कि इसकी कुछ पंक्तियां ही “दलित पैंथर के आन्दोलन की आधारशिला बन गई।”<sup>15</sup> दलित चेतना का परिवर्तनकामी आंदोलन डॉ० अम्बेडकर के राजनैतिक मंच पर उदित होने के उपरान्त आरंभ हुआ जिसका उत्स 1920 में प्रकाशित ‘मूकनायक’ नामक पत्रिका से माना जाता है। डॉ. अम्बेडकर द्वारा शुरू किया गया सुचिंतित सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन दलित चेतना का मुख्य आधार है। गुजराती दलित कवि जयंत परमार दलित चेतना के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हैं कि अम्बेडकर दर्शन ने दलित कवियों के मन में आत्म-सम्मान जाग्रत किया है; उसके फलस्वरूप जीवनानुभव को देखने और पहचानने की उनकी भूमिका विद्रोह तथा नकार से भर उठी। उसका आवेग किसी तूफान की तरह है। उसका सौंदर्य और उसका सामर्थ्य उसकी वेदना में है।<sup>16</sup> बाबूराव बागूल की धारणा है कि दलित चेतना साहित्य और आम आदमी के संबंधों को व्यापकता देती है।<sup>17</sup>

ओम प्रकाश वाल्मीकि स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि “दलित चेतना का सीधा संबंध अंबेडकर-दर्शन से है। वही प्रेरणास्रोत भी हैं। सामाजिक उत्पीड़न, सामंती सोच, वर्ण-व्यवस्था से उपजी ऊंच-नीच ने दलितों को शताब्दियों से मानसिक गुलामी में जकड़कर रखा हुआ है। उसकी मुक्ति के तमाम रास्ते बंद थे, इस गुलामी से मुक्त होने का विचार ही दलित चेतना है जिसे ज्योतिबा फुले और डॉ० अंबेडकर ने दार्शनिक आधार दिया।”<sup>18</sup>

दलित साहित्य के संदर्भ में दलित चेतना की पृष्ठभूमि, प्रेरणास्रोत और विकास प्रक्रिया की समझ बहुत जरूरी है। गौतम बुद्ध, बौद्ध दार्शनिक, ज्योतिबा फुले और डॉ. अम्बेडकर के दर्शन एवं आंदोलनधर्मी संघर्षयात्रा को पढ़े या समझे बगैर दलित चेतना को समझना असंभव है। वर्णव्यवस्था को चुनौती, सामाजिक व्यवस्था का विकल्प, अधिकार, समता, न्याय और भागीदारी के सवाल से दलित चेतना का सीधा संबंध है। यह चेतना डॉ. अम्बेडकर के चिंतन से निर्मित वैचारिकी है जो दलित साहित्य आंदोलन के रूप में फलीभूत हुई है। दलित, दलित चेतना, दलित साहित्य आंदोलन और डॉ. अम्बेडकर की वैचारिकी का अनन्य संबंध है। दलित आंदोलन और दलित साहित्य की अवधारणा के मूल में भी अम्बेडकरवादी वैचारिकी ही है। यह बिल्कुल अधुनातन प्रवृत्ति है। इसे मध्यकाल या आदिकाल तक खींच ले जाने की प्रवृत्ति घातक है। दलित आंदोलन से उपजे पदबंधों की ऐतिहासिकता को समझे बगैर कुछ आलोचक/ विचारक/ पाठक दलित साहित्य की खोज करते हुए भटक जाते हैं और रामचरितमानस से लेकर वेद तक में दलित साहित्य के स्रोत ढूंढ लाते हैं। यह दलित साहित्य आंदोलन को कुंद करने की साजिश है। साहित्यालोचना में यह सायास और अनायास अभी भी जारी है। ऐसा करके दलित साहित्य को दिग्भ्रमित किया जा रहा है। दलित जीवन के वर्णन या दलित पात्रों के उल्लेख मात्र से न तो कोई रचना दलित साहित्य का हिस्सा बन सकती है और न ही रचनाकार। दलित और दलित चेतना का आंदोलनधर्मी स्वरूप जाने बगैर दलित साहित्य को नहीं समझा जा सकता है। यह आंदोलन भले ही महाराष्ट्र की जमीन से उपजा हो लेकिन इसकी संवेदना और स्वरूप राष्ट्रीय है। यहां भाषा बाधक नहीं है। दलित चेतना पदबंध का विशिष्ट अर्थ और प्रयोग है जिसे दलित साहित्य की रचनाओं के आधार पर ही समझा जा सकता है।

## दलित साहित्य

हिंदी साहित्य के पुरोधा माने जाने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ नामक पुस्तक में साहित्य के सरोकारों को निर्दिष्ट किया है। “जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।”<sup>19</sup> लेकिन दलित चिंतक ओम प्रकाश वाल्मीकि जब यह कहते हैं कि “हिंदी साहित्य में ढूंढने पर भी हमें अपना चेहरा दिखाई नहीं देता।”<sup>20</sup> तो निश्चित तौर पर यह बेचैन कर देने वाला सवाल स्थापित साहित्य और समाज को कठघरे में खड़ा करता है। इस बात को तब और बल मिलता है जब हिंदी के प्रख्यात आलोचक रामस्वरूप

चतुर्वेदी 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में यह लिखते हैं "इस देश का एक संविधान आर्यावर्त में मनु महाराज ने रचा था, और दूसरा देश के लिए फिर से स्वाधीन होने पर डॉ० अंबेडकर ने रचा, मनु के विधान में अंबेडकर के लिए स्थान नहीं था, या नहीं जैसा था, अंबेडकर के विधान में मनु के लिए पूरा स्थान है।"<sup>21</sup>

दलित रचनाकार परम्परागत भाषा साहित्य में दलित की वेदना, उसके दुःख-दर्द, उसके सपने और उसकी चेतना को नहीं पाता। 'मुख्यधारा' से वंचित कर दी गई अस्मिताओं ने साहित्य को कठघरे में खड़ा कर दिया है। अपने दुःख-दर्द, अपना वजूद और अनुभूतियों को साहित्य में तलाशतीं ये अस्मिताएं अब स्वतंत्र और स्वायत्त रचनात्मक विकास की ओर उन्मुख हैं। इनकी अनुभूतियां समाज के एक ऐसे सच को उकेर रही हैं, जिसे साहित्य और संवेदना का विषय बनाया ही नहीं गया और यदि विषय बना भी तो सहानुभूतिपरक। 'सर्जनात्मक साहित्य के निर्माण में समाज की क्या भूमिका होती है और रचना की जड़ें समाज में कितनी समाई होती हैं'<sup>22</sup> इस तरह के समाजशास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण से सामाजिकता की खोज या समाज से साहित्य के संबंधों को तलाशा जा सकता है। समाज और साहित्य से दरकिनार कर दी गई अस्मिताओं की स्थिति को पत्रकार राजकिशोर के वक्तव्यों से समझने का प्रयास किया जाए—'सच तो यह है कि आधुनिक सभ्यता बर्जुआ वर्ग ने ही खड़ी की है निश्चय ही इसके पीछे सर्वहारा का हाथ रहा है लेकिन उसने इस श्रम का उपयोग अपनी इच्छा से नहीं किया है। वह इतिहास के रथ का घोड़ा रहा है, जिसकी बागडोर किसी और के हाथ में रही है। इसी अर्थ में आधुनिक हिंदी लेखन सवर्ण वर्ग का लेखन है। लेखन का शिल्प उसी ने विकसित किया है और वही उसका उपयोग कर रहा है। दलित को उसमें प्रवेश पाना मुश्किल लगता है, क्योंकि वह उन उपकरणों से सज्जित नहीं है, जो साहित्य की मान्य परम्परा ने कई हजार वर्गों में विकसित किए हैं। यह शिल्प स्वायत्त करने में दलित को कुछ वक्त लग सकता है।"<sup>23</sup> राजकिशोर जी द्वारा बर्जुआ और सर्वहारा शब्दों का प्रयोग आधुनिक काल से पीछे तक जाने नहीं देता, यदि यहां सवर्ण और अवर्ण शब्द का प्रयोग किया जाता तो शायद ज्यादा सार्थक होता, हालांकि उन्होंने दलितों के संदर्भ में उनके लेखन की स्वायत्तता और शिल्प की जो बात कही है—वह बिल्कुल सही है सवर्ण-अवर्ण और बर्जुआ-सर्वहारा का अपना इतिहास है। सवाल यह है कि जिस अस्मिता की बात साहित्य के माध्यम से की जा रही है वह मूलतः वर्ण-व्यवस्था के कारणों में छिपी है। पूरी हिंदू व्यवस्था इस तंत्र पर टिकी है। वर्ण के बरक्स वर्ग का नजरिया भारतीय संदर्भ में कभी भी स्पष्ट नहीं रहा। जाति और अस्पृश्यता का सवाल वर्ग में खोता चला गया, जिससे हाशिए की अस्मिताओं के सवाल दर किनार होते गए। इस संदर्भ में ओम प्रकाश वाल्मीकि के विचार उल्लेखनीय हैं:—

"साहित्य के माध्यम से हमें समाज और वस्तु जगत को वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय ढंग से समझने की कोशिश अथवा मनुष्य की स्वतंत्रता, गरिमा और व्यक्तित्व का विकास करने के लिए समान अधिकारों जैसे मानवीय मूल्यों की पक्षधरता स्थापित करनी चाहिए थी। लेकिन हुआ ठीक इसके विपरीत। जनवादी और प्रगतिशील मूल्यों के नाम पर कुछ ऐसे मूल्यों का प्रचार-प्रसार होता रहा जो वाह्य रूप में तो बहुत ही आकर्षक लग रहे थे, लेकिन भीतर ही भीतर वे सामंती, पूंजीवादी, एवं वर्ण-व्यवस्था समर्थक मूल्यों की ही स्थापना कर रहे थे। परिवर्तन की प्रक्रिया लगातार धीमी पड़ रही थी जो यथास्थिति बनाए रखने की पक्षधर थी।"<sup>24</sup> यह विचार आलोचकों-चिंतकों को काफी उत्तेजित कर सकता है। तिलमिलाहट पैदा कर सकता है लेकिन थोड़ा संजीदगी से विचार किया जाए और विगत रचनाकार और रचनाओं का मूल्यांकन किया जाए तो दलितों और अन्य हाशिए की अस्मिताओं के प्रति साहित्य का रवैया ठीक से समझ में आ जाएगा। क्या वजह है कि आज अचानक हीरा डोम और अछूतानंद विमर्श का विषय बन गए हैं? वे कौन से कारण हैं जिसकी वजह से 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में दलित चेतना के उन्नयकों को उपेक्षित किया गया, जबकि तत्कालीन समय में डॉ० अंबेडकर अस्मिता और समतापरक आंदोलन चला रहे थे। उस दौरान देश एक तरफ विदेशी उपनिवेशवाद से मुक्ति की लड़ाई लड़ रहा था तो दूसरी तरफ हजारों वर्षों से यहां के बहुसंख्यक लोग आंतरिक उपनिवेशवाद की दोहरी मार झेल रहे थे। वह उत्पीड़ित वर्ग अपने वजूद के लिए संघर्षरत था। उस समय भी वह संघर्ष सामाजिक, राजनैतिक स्वरूप तो अख्तियार किया, लेकिन साहित्यिक पटल पर इस अस्मितापरक लड़ाई को वह स्थान नहीं मिल सका जो कि मिलना चाहिए था। यही स्थिति आजादी के बाद भी बनी रही। लेकिन इस सदी के अंत तक आते-आते सामाजिक, राजनीतिक एजेंडे के साथ-साथ साहित्यिक विमर्श का वह विषय बना है। अंततः यह विमर्श और दलित साहित्यांदोलन दलितों, भुक्तभोगियों, वंचितों या हाशिए की अस्मिताओं की तरफ से ही शुरू हुआ। शिव कुमार मिश्र के शब्दों में, "पहली बार दलितों का अपना भोगा हुआ उनकी अपनी लेखनी से सामने आ रहा है। उनकी अपनी आशाएं, आशंकाएं, उनके अपने स्वप्न, उनका अपना वजूद, उनकी अपनी सोच में ढलकर अभिव्यक्त हो रहा है। इस लेखन में दया, करुणा और सहानुभूति नहीं, खालिस वह यथार्थ है, जिसके वे भोक्ता रहे हैं, दृष्टा नहीं, उसमें आक्रोश, विक्षोभ, घृणा और प्रतिहिंसा के स्वर हैं। उफान और उद्रेग हैं, चुनौतियां और चेतावनियां हैं, आत्मविश्वास और संतुष्टि का भाव है। इस सब को लेकर उनसे इतर जो हैं; उनमें अपने-अपने ढंग की प्रतिक्रियाएं हैं। इन प्रतिक्रियाओं की चिंता न करते हुए दलित लेखन अपने निजी अधिकारों से अपने को स्थापित कर रहा है।"<sup>25</sup>

आज जबकि भारत में अपनी सामाजिक संरचना में विद्यमान वर्ण-भेद और जाति तथा वर्ण चेतना अनेक वस्तुगत कारणों के चलते, जिनमें राजसत्ता पर काबिज होने की राजनीति की मुख्य भूमिका है की पोल खुल गई है। लुभावनी शक्तियां अब बेनकाब हो गई हैं। अपने अधिकार, सम्मान, समता के लिए संघर्ष कर रही अस्मिताएं साहित्य, समाज और राजनीति में अपने को स्थापित कर रही हैं। कितनी विचित्र स्थिति है कि आजादी के पचास वर्षों में भी बजाय इसके कि समाज के सामंती अवशेषों पर प्रहार होता, वर्ण और जाति की जड़ें कमजोर की जातीं, असलियत यह है कि विगत वर्षों में संवैधानिक, राजनैतिक मूल्यों, संकल्पों और लक्ष्यों को पृष्ठभूमि में फेंकते हुए सामंती और हिंदू- व्यवस्था को ही संरक्षित और संवर्द्धित किया गया है। परिणामतः आजादी के पूरे दौर में न केवल दलितों व स्त्रियों के उत्पीड़न में वृद्धि हुई, बल्कि उन्हें अधिकार वंचित और निरीह बनाए रखने की साजिशें जारी रहीं। शिवकुमार मिश्र के शब्दों में कहें तो "इस सब का परिणाम है दलित चेतना का उत्थान और दलितों का एक अहम सामाजिक शक्ति के रूप में ही नहीं, राजसत्ता पर काबिज होने को तैयार एक राजनीतिक शक्ति के रूप में सामने आना। हिंदी में दलित लेखन का जो भी और जितना भी रूप सामने आया है उसका संबंध दलित चेतना के इसी उभार से है।"<sup>26</sup> हिंदी क्षेत्र के संदर्भ में यह बात सटीक है, लेकिन इसके मूल में फुले और डॉ. आंबेडकर का विचार, दर्शन और संघर्ष ही है, जिससे एक दृष्टि विकसित हो सकी। समझ पैदा हुई और सजगता आई है। यही सजगता और दृष्टि साहित्य को अपने नजरिए से परख रही है। मुख्यधारा से काट दी गई अस्मिताएं मूल्यांकन और पर्यवेक्षण का अपना आधार विकसित कर रही हैं। जिसकी परिणति दलित साहित्य के रूप में देखी जा रही है। दलित साहित्य को समझने के लिए कुछ विद्वानों के मंतव्यों का पर्यवेक्षण जरूरी है।

दलित साहित्य से तात्पर्य तथा उसके उद्भव के सन्दर्भ में शरण कुमार लिंबाले का विचार है कि -'अछूत का अनुभव' अथवा 'जाति-व्यवस्था का कलंक' अलग कर दिया जाए, तो सर्वहारा का जीवन एक जैसा होता है। प्रत्यक्ष जाति-व्यवस्था होने के बावजूद उसे नकार कर 'सभी का जीवन एक समान है' कहना वास्तविकता को नकारना तथा यथार्थ पर लीपापोती करना है। 'अछूत के अनुभव' की ओर से आंखें नहीं मोड़ी जा सकती, क्योंकि यह अनुभव हजारों वर्षों के, हजारों मनुष्यों का है। दलित साहित्य का जन्म अस्पृश्यता की कोख से हुआ है और यही इसकी विशेषता है।<sup>27</sup>

"दलितों की परेशानी, गुलामी, पारिवारिक विघटन, दुःख, गरीबी और उपेक्षापूर्ण जीवन का वास्तविक चित्रण करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। पीड़ा और आह का उदात्त स्वरूप अर्थात् दलित साहित्य। ..... 'बाबा साहब आम्बेडकर के विचारों से दलित को अपनी गुलामी का अहसास हुआ। उनकी वेदना को वाणी मिली, क्योंकि मूक समाज को बाबा साहब के रूप में अपना नायक मिला। दलितों की यह वेदना ही दलित साहित्य की जन्मदात्री है। यह वेदना एक की नहीं है, न ही एक दिन की है। यह वेदना हजारों वर्षों की है। इसलिए व्यक्त होते समय समूह में व्यक्त होती है। दलित साहित्य की 'वेदना' 'मैं' की वेदना नहीं है। वह बहिष्कृत समाज की वेदना है। इसीलिए इस वेदना का स्वरूप सामाजिक है।..... 'दलित साहित्य में 'नकार' और 'विद्रोह' दलितों की वेदना से पैदा हुआ है। यह नकार और विद्रोह अपने ऊपर लादी अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध है। दलित साहित्य में जैसे वेदना सामूहिक रूप से व्यक्त होती है, वैसे ही नकार और विद्रोह भी सामाजिक एवं सामूहिक है।..... 'जिस स्थापित विषम व्यवस्था ने दलितों का शोषण किया उसी व्यवस्था के प्रति यह 'नकार' और 'विद्रोह' है। इसका स्वर दुधारा है। विषम व्यवस्था को नकारते हुए समता और स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व की मांग करता है। 'मैं मनुष्य हूं, मुझे मनुष्य का सभी हक मिलना चाहिए'- इस ज्ञान से यह विद्रोह पैदा हुआ है।"<sup>28</sup> दलित साहित्य की व्याख्या करते हुए उसे निम्नलिखित ढंग से परिभाषित किया गया है-कुछ विद्वानों, चिंतकों के विचार उल्लिखित हैं :

मराठी लेखक नारायण सुवे के शब्दों में "दलित साहित्य की अपनी अलग ही पहचान है। वह पूर्ण रूप से समाजाभिमुख है। सामाजिक समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व-भाव तथा वर्ण-व्यवस्था का विरोधी स्वर ही उसकी नींव है। सामाजिक परिवर्तन उसका मूल लक्ष्य है।"<sup>29</sup> शरण कुमार लिंबाले के शब्दों में "दलित साहित्य ने आम आदमी को नायक बनाया; दलित व्यक्ति को सिर पर बैठाया, क्योंकि दलित साहित्य व्यक्ति को ही सर्वोपरि मानता है। देव और धर्म से ऊंचा व्यक्ति को मानता है। धर्म से ऊपर व्यक्ति को मानकर साहित्य लिखा जाता है।"<sup>30</sup> ओम प्रकाश वाल्मीकि के अनुसार "दलित शब्द दबाए गए शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित के अर्थों के साथ जब साहित्य से जुड़ता है तो विरोध और नकार की ओर संकेत करता है। वह नकार या विरोध चाहे व्यवस्था का हो, सामाजिक विसंगतियों या धार्मिक रुढ़ियों, आर्थिक विषमताओं का हो या भाषा-प्रांत के अलगाव का हो या साहित्यिक परंपराओं, मानदंडों या सौन्दर्य शास्त्र का हो दलित साहित्य नकार का साहित्य है, जो संघर्ष से उपजा है, जिसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुता का भाव है और वर्ण-व्यवस्था से उपजे जाति-भेद का विरोध है।"<sup>31</sup> दलित चिंतक कंवल भारती की मान्यता है कि आधुनिक हिंदी दलित साहित्य वह है जो दलित मुक्ति के सवाल पर पूरी तरह अंबेडकरवादी है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में उसके सरोकार वे हैं जो अंबेडकर के थे।<sup>32</sup> मोहन दास नैमिशराय के अनुसार 'शोषक वर्ग के खिलाफ अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते हुए समाज में समता, बंधुता तथा मैत्री की स्थापना करना ही दलित साहित्य का उद्देश्य है।"<sup>33</sup> डॉ. गंगाधर पानतावणे इस तथ्य पर जोर देते हैं कि दलित साहित्य की प्रेरणा न मार्क्सवाद है, न हिंदूवाद, न निग्रो साहित्य है। दलित

साहित्य की प्रेरणा केवल अंबेडकरवाद है।<sup>34</sup> दलित साहित्य की जितनी भी परिभाषाएं हैं उनका एकमात्र स्वर है सामाजिक परिवर्तन। अंबेडकर विचार ही उसकी एकमात्र प्रेरणा है। बाबूराव बागुल के शब्दों में: “मनुष्य की मुक्ति को स्वीकार करने वाला, मनुष्य को महान मानने वाला, वंश, वर्ण और जाति श्रेष्ठत्व का प्रबल विरोध करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है।”<sup>35</sup>

उपर्युक्त विचार, व्याख्याएं एवं परिभाषाएं दलित साहित्य के सरोकारों और उसके आशय को स्पष्ट करती हैं। दलित साहित्य अखिल भारतीय स्वरूप ले चुका है। साहित्य की लगभग सभी विधाओं में दलित साहित्य की अभिव्यक्ति उभर कर सामने आई है। अस्मिता और आत्म सम्मान के लिए हीनता ग्रंथि को तोड़कर विभिन्न भाषाओं में दलित आत्मकथाएं अपने वेदनामय जीवनानुभवों के साथ उपस्थित हैं। मराठी में दया पवार की ‘अछूत’ (बलूत), शरण कुमार लिंबाले की ‘अक्करमाशी’, बेबी कांबले की ‘जीवन हमारा’, लक्ष्मण गायकवाड़ की ‘उठाईगीर’ आदि तथा हिंदी में मोहन दास नैमिशराय की ‘अपने-अपने पिंजरे’, ओम प्रकाश वाल्मीकि की ‘जूठन’, सूरजपाल चौहान की ‘तिरस्कृत’, कौशल्या बैसंत्री की ‘दोहरा अभिशाप’, डॉ. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’ की ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’, डॉ. तुलसी राम की ‘मुर्दहिया’ और डॉ. सुशीला टाकभौरे की ‘शिकंजे का दर्द’ आदि आत्मकथाओं ने हिंदी क्षेत्र में स्थापित परम्परागत हिंदी साहित्य के समक्ष नई चुनौती पेश की है। ये आत्मकथाएं हीनता बोध से दलित को बाहर ला रही हैं।

कविताओं ने दलित साहित्य के सरोकार और उसके मर्म को शीर्ष पर पहुंचाया है। दलित कवि मोहनदास नैमिशराय ने तो ईश्वर के होने पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। वे कहते हैं—

ईश्वर की मौत  
उस पल होती है  
जब मेरे भीतर उभरता है सवाल  
ईश्वर का जन्म  
किस मां की कोख से हुआ था ?  
ईश्वर का बाप कौन ?...<sup>36</sup>

ओम प्रकाश वाल्मीकि हिंदुत्ववादियों को उन्हीं का अद्वैतवाद का उदाहरण देकर पूछते हैं—  
चूहड़े या डोम की आत्मा  
ब्रह्म का अंश क्यों नहीं है  
मैं नहीं जानता  
शायद आप जानते हों! ....<sup>37</sup>

कंवल भारती लिखते हैं—  
क्रांति के दस्तावेज सुंदर नहीं होते  
जैसे सुबह के आखबार  
जो तुम्हें गुदगुदाते हैं मीठी भाषा में  
.....  
यह बताओं  
बलात्कार की शिकार  
तुम्हारी मां की भाषा कैसी होगी ?<sup>38</sup>

मलखान सिंह के शब्दों में—  
देखो!  
बन्द किले से बाहर  
झांक कर तो देखो  
बरफ पिघल रही है।  
बछेड़े मार रहे हैं फुरीं  
बैल धूप चबा रहे हैं  
और एकलव्य  
पुराने जंग लगे तीरों को

आग में तपा रहा है।<sup>39</sup>

दलित कथा-साहित्य से दलित संवेदना की व्यापकता को समझा जा सकता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. प्रेमशंकर, सूरजपाल चौहान, डॉ. सुशीला टाकभौर, डॉ. जय प्रकाश कर्दम, डॉ. शैलराज सिंह 'बेचैन', डॉ. कुसुम विद्योगी, प्रेम कपाड़िया, कावेरी, विपिन बिहारी, बुद्ध शरण हंस, सत्य प्रकाश, डॉ. दयानंद बटोही, बी. एल. नैय्यर, कुसुम मेघवाल, एन.आर. सागर, सी बी भारती, कर्मशील भारती, नीरा परमार, तेजपालसिंह 'तेज', उमराव सिंह जाटव, रत्न कुमार सांभरिया, रजत रानी 'मीनू', डॉ. हेमलता महीश्वर, रजनी तिलक, डॉ. अजय नावरिया, सुजाता पारमिता, डॉ. सुमित्रा महरोल, डॉ. रजनी दिसोदिया, सुशीला पवार, अनिता भारती, कैलाश वानखेड़े, अमित कुमार, टेक चंद, राज वाल्मीकि, डॉ. सूरज बड़त्या, कैलाश चंद चौहान, डॉ. अजमेर सिंह काजल, डॉ. राजेश कुमार, डॉ. कौशल पंवार, पूनम तुषामड़, सुशांत सुप्रिय, ब्रह्मानंद, दिलीप कठेरिया, अर्जुन सावेदिया आदि। इन कहानीकारों की कहानियों के माध्यम से दलित कहानी की संवेदना और सरोकारों के विविध आयाम को समझा जा सकता है— जहां वर्ण-व्यवस्था पर चोट, जाति की जड़ता की शिनाख्त, धार्मिक पाखंड एवं कर्मकांड पर प्रश्न चिन्ह, पितृसत्ता के सवाल, जाति-उपजाति के अंतर्विरोध, प्रेम तथा आतंक से लेकर पूंजीवाद, भूमंडलीकरण, बाजारवाद और नगरीय संस्कृति के बहुविध विषयों के माध्यम से दलित कहानी के तेवर और उसकी व्यापकता को समझा जा सकता है। छप्पर, करुणा, मिट्टी की सौगंध, जस-तस भई सबेर, मुक्तिपर्व, थमेगा नहीं विद्रोह, उधर के लोग, जखम हमारे, सुबह के लिए आदि दलित उपन्यासों ने दलित साहित्य के तेवर को विस्तार दिया है।

मराठी में नामदेव ढसाल, अर्जुन डांगले, दया पवार, बाबूराव बागुल, प्रज्ञा लोखंडे, केशव मेश्राम, लक्ष्मण गायकवाड़, लोकनाथ यशवंत, भुजंग मेश्राम, अभिताभ, उर्मिला पवार आदि; उड़िया में विचित्रानंद नायक, डॉ. वासुदेव सुनामी, संजय कुमार बाघ, राम चंद्र सेठी, पंजाबी में द्वारका भारती, मदन वीरा, बलबीर माधोपुरी, गुरदास राम आलम, लालसिंह 'दिल', गुरचरन सिंह राओ, कन्नड़ में सिद्धलिंगय्या, अरविंद मालगत्ती, एल हनुमंथय्या, मोगली गणेश, सुमुह होलियार, गंगाराम चंडाल, के रामय्या, इंदूधर होन्नापुर देवनूर महादेव, बरगुरु रामचंद्रप्पा, तेलगू में शिव सागर, शंबूक, मद्दयूरी नगेश बाबू, एन्ड्रूरी सुधाकर, जी.विजय लक्ष्मी, एम.वेंकट, सतीश चंदर, बांग्ला में कपिल कृष्ण ठाकुर, श्यामल प्रामाणिक, अचिन्त्य विश्वास, अनिल सरकार, मंजूबाला, कल्याणी ठाकुर, मनोहर मौली विश्वास, असमी में रमला राय सरकार, पीताम्बर दास, नयन बड़ो, दिजेन काकति, हरेंद्र कुमार मछाहारी, डॉ. श्रीधारी दुसाध, मलयालम में तंकप्पन, कवियूर मुरली, राघवन अत्तोली, एम.आर रेणु कुमार, एम.बी.मनोज कुमार, मेरली के. पुन्नूस, श्रीजा.ए.एस, नागेश बाबू, राजन कुरुमशेरी, तमिल में मीना कांदा स्वामी, सुगीर्थ रानी, अन्बादवन, इदयवेंदन, गुजराती में दलपत चौहाण, नीरव पटेल, जयंत परमार, प्रवीण गढ़वी, हरीश मंगलम, मधुकांत कल्पित, प्रियंका कल्पित, जोसेफ मैकवान आदि नाम प्रमुख हैं।

इतना ही नहीं, दलित साहित्य की छाया अब दलित पेन्टरों की कूचियों में भी सामने आने लगी है, जिन्होंने डॉ० अंबेडकर के संघर्ष एवं उनके उसूलों को ही अपनी कला का माध्यम बनाया है। ऐसे पेन्टरों में प्रदीप रामटेके तथा सवी सावरकर प्रमुख हैं। प्रदीप रामटेके ने गौतम बुद्ध तथा डॉ० अंबेडकर को ही अपनी पेन्टिंग का आधार बनाया है। अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मानों से सम्मानित रामटेके ने अजन्ता का एक मुराल तैयार किया है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दलित पेंटर सवी सावरकर ने मनुवादी व्यवस्था पर पेन्टिंग की पूरी एक सीरियल तैयार की है जो छुआछूत के उपकरणों झाड़ू, घड़ा, डफली आदि के साथ जाति-व्यवस्था को उजागर करती है और दलित साहित्य आंदोलन को समृद्ध कर रही है। इनकी पेंटिंग अम्बेडकरवादी वैचारिकी से गहरे रूप में जुड़ी हुई है।

इस प्रकार दलित साहित्य का स्वरूप व्यापक होता जा रहा है। विश्व दलित साहित्य सम्मेलनों का आयोजन तथा विदेशों में उक्त विषय पर शोध इस बात का परिचायक है कि दलित साहित्य की प्रासंगिकता कैसे बढ़ रही है। कनाडा के टोरंटो विश्वविद्यालय में 'जूठन' और अन्य दलित कृतियों पर शोध चल रहा है। राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीयस्तर पर विभिन्न भाषाओं में दलित रचनाकारों का वृहद् समूह बन चुका है। दलित रचनाकारों की अपनी पहचान स्थापित हो रही है। कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, नाटक, एकांकी, आलोचना, पत्रकारिता, संस्मरण आदि विधाओं पर दलित रचनाकारों की निरन्तर लेखनी चल रही है। इससे स्पष्ट होता है कि दलित चिंतन ने सुव्यवस्थित आंदोलनधर्मिता के साथ साहित्य में दस्तक दिया है। भारत के अधिकतम विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में दलित साहित्य पढ़ाया जा रहा है। लगभग दो सौ से भी अधिक दलित रचनाओं और रचनाकारों पर शोध हो चुके हैं। इससे दलित साहित्य आंदोलन की महत्ता और सार्थकता का अंदाजा लगाया जा सकता है।

दलित साहित्य की अवधारणा

प्रामाणिक हिंदी कोश से अर्थ ग्रहण करें तो अवधारणा से तात्पर्य है:

1. अच्छी तरह विचार करके कोई निश्चय करना (डिटरमिनेशन)
2. अच्छी तरह विचार करके कोई परिणाम निकालना (फाइंडिंग)<sup>40</sup>

दलित साहित्य की अवधारणा के संदर्भ में दलित चिंतक डॉ० तुलसीराम के विचार: 'दलित साहित्य का आधार डॉ० अंबेडकर के विचार हैं। ये विचार दलितों के धार्मिक शोषण के विरुद्ध पनपे थे। बुद्ध के प्रभाव में लिखे गए जिस साहित्य को ब्राह्मणों ने आठ सौ वर्ष पूर्व नष्ट कर दिया था, उसे डॉ० अंबेडकर ने पुनर्जीवित करने का अभियान छेड़ा। यही कारण है कि बिना अंबेडकर के दलित साहित्य की बात नहीं की जा सकती।'<sup>41</sup>

मराठी दलित रचनाकार अर्जुन डांगले के अनुसार: 'सामाजिक व्यवस्था और विषमता के विरुद्ध आंदोलन खड़ा करके एक नए समाज का निर्माण करना, यह दलित साहित्य का प्रमुख उद्देश्य है।'<sup>42</sup> डॉ० विमल थोरात का मानना है: 'दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है, जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्व' की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परम्पराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है।'<sup>43</sup> शरण कुमार लिंबाले के शब्दों में 'दलित साहित्य का अनुभव, अब तक साहित्य में न व्यक्त हुआ अनुभव है। यह जाति विशेष का अनुभव है, इसलिए यह एक व्यक्ति का होते हुए भी पूरी जाति को प्रतिनिधित्व देता है, उसकी पीड़ा और आक्रोश को प्रतिबिम्बित करता है। दलित साहित्य में अनुभव, स्वतंत्रता की आकांक्षा से व्यक्त होता है। उसका स्वरूप 'में' की अपेक्षा 'हम' जैसा है। इसी अनुभव ने दलित लेखकों को लिखने के लिए प्रेरित किया।'<sup>44</sup>

'असमान व्यवस्था के नीचे पिसे हुए मनुष्य को केंद्र मानकर जाति-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा इसी अनुभव से मिली। इसका स्रोत अंबेडकर के विचार हैं। 'दलित' होने का ज्ञान गुलाम को गुलामी के ज्ञान की तरह है। यह ज्ञान ही दलित साहित्य का सार है। यह ज्ञान अन्य लेखकों की अपेक्षा दलित लेखक के ज्ञान को अलग करता है, उसे विशिष्ट बनाता है। दलित लेखक के लेखन का आधार उसका निजी अनुभव है। उसके लेखन में हमेशा एक भूमिका रहती है कि इसके विरुद्ध विद्रोह करना है, यह नकारना है अथवा इसका निर्माण करना है। पहले से निर्धारित विश्वास से दलित लेखक लिखता है, इसीलिए उसका लेखन उद्देश्यपूर्ण है। दलित लेखक सामाजिक जिम्मेदारी से लिखता है। उसके लेखन में ऐक्टिविस्ट (कार्यकर्ता) का आवेश एवं निष्ठा व्यक्त होती है। समाज बदले; समाज अपने सवाल समझे—यह तिलमिलाहट उसके लेखन में व्यक्त होती है। दलित लेखक आंदोलन करके लिखने वाला कार्यकर्ता कलाकार है। यह अपने साहित्य को आंदोलन मानता है। उसका लगाव 'समग्र ब्रोकेन मेन' से है। सभी टूटे, पिछड़े मनुष्यों से है।'<sup>45</sup>

दलित साहित्य का जीवन दर्शन आज तक व्यक्त हुए जीवन दर्शन से भिन्न है। एक नया संस्कार, एक नया समाज, एक नया मनुष्य पहले पहल साहित्य में व्यक्त हुआ है। दलित साहित्य का यथार्थ अलग है। इस यथार्थ की भाषा अलग है। वर्ण-व्यवस्था के अमानवीय बंधनों ने शताब्दियों से दलितों के भीतर हीनता भाव को पुख्ता किया है। धर्म और संस्कृति की आड़ में साहित्य ने भी इस भावना की नींव सुदृढ़ की है। ऐसे सौन्दर्यशास्त्र का निर्माण किया गया जो अपनी सोच और स्थापनाओं में दलित विरोधी हैं। जो समाज के अनिवार्य अन्तर्सम्बन्धों को खंडित करने में सहायक रहा है। ओम प्रकाश वाल्मीकि का कहना है कि ऐसे प्रतिकूल, नैराश्यपूर्ण क्षणों में भी दलित कवियों ने हीन भावना का त्याग करके सजगता और सतर्कता से विसंगतियों और विषमताओं के बीच दलित साहित्य को जीवन के सरोकारों से जोड़ा। दलित कवि साहित्य के मूलभूत प्रयोजनों से साक्षात्कार करता है। यह दलित कवि की सहज और अनिवार्य प्रतिबद्धता है, उसकी रचनात्मक ऊर्जा है।

दलित साहित्यकार अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ रचनाकर्म से जुड़कर साहित्य की सृजनात्मकता में मानवीय सरोकारों, संवेदनाओं और स्वतंत्रता, भाई-चारे की भावनाओं को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति और उसकी पीड़ा, उसके सुख-दुःख महत्वपूर्ण हैं। उसमें दलित हो या स्त्री, उसके प्रति रागात्मक तादात्म्य स्थापित करना दलित साहित्य का प्रमुख प्रयोजन है। दलित चिन्तन ने नया आयाम देकर साहित्य की भावना का विस्तार किया है। पारम्परिक और स्थापित साहित्य को आत्मविश्लेषण और पुनर्विश्लेषण के लिए बाध्य किया है। झूठी और अतार्किक मान्यताओं का निर्ममता से विरोध किया है। अपने पूर्व साहित्यकारों के प्रति आस्थावान रहकर नहीं, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि रखकर दलित साहित्यकारों ने पुनर्मूल्यांकन की जद्दोजहद शुरू की है, जिससे जड़ता टूटी है। साहित्य आधुनिकता और समकालीनता की ओर अग्रसर हुआ है।

दलित लेखन केवल दलितों के अधिकार एवं मूल्यों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि सामाजिक सन्दर्भों के साथ जुड़कर समूचे समाज की अस्मिता और मूल्यों की पहचान बनाता है। रमणिका गुप्ता का कहना है कि 'दलित साहित्य उस दबी हुई अस्मिता को प्राणवान मानव-अस्मिता का हिस्सा बनाने की लड़ाई लड़ रहा होता है, जब वह वर्णविहीन, वर्गविहीन, जातिविहीन समाज बनाकर एक मानवीय समाज बनाने की घोषणा करता है। जनवादी, प्रगतिशील और जनतान्त्रिक साहित्य जो भारत के जन्मजात जाति के सन्दर्भ में केवल वर्ग की ही बात करते-करते एकतरफा, कहें कि इकहरा हो गया था—दलित साहित्य ने सामाजिक समानता और राजनीतिक भागीदारी को भी साहित्य का विषय बनाकर

उनकी आर्थिक समानता की अधूरी मुहिम को पूर्णता दी। इन तीनों मुद्दों पर समानता प्राप्त किए बगैर मनुष्य पूर्ण समानता प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य इस पूर्ण समानता के लिए संघर्षरत है।<sup>46</sup> 'भारतीय समाज-व्यवस्था ने दलित और गैर-दलित के सामाजिक जीवन में जो फासला निर्मित किया है, उसके परिणामस्वरूप गैर-दलित दलित जीवन और उनकी जिजीविषा की दग्धताओं से यदि अपरिचित है, तो यह आश्चर्यजनक नहीं बल्कि इस व्यवस्था का ही परिणाम है। जब वे इस जीवन की सच्चाइयों को जानते ही नहीं हैं तो उस पर जो भी लिखेंगे वह केवल बाह्य चित्रण होगा जो सहानुभूति और करुणा से उपजा हुआ होगा न कि किसी बदलाव या सन्ताप की आकांक्षा से।'<sup>47</sup> 'कई विद्वानों, रचनाकारों, आलोचकों का मत है कि दलितों पर लिखने के लिए दलित होना जरूरी नहीं है। उनका तर्क है कि घोड़े पर लिखने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं है। लेकिन दलित लेखक इस तर्क से सहमत नहीं हैं। घोड़े की पीड़ा को समझे बगैर, उसका बाह्य-चित्रण उसकी भावनाओं का काल्पनिक रेखांकन भर ही होगा। थका-माँदा, भूखा-प्यासा घोड़ा अपने मालिक के प्रति क्या भाव रखता है, इसे सिर्फ घोड़ा ही बता सकता है।'<sup>48</sup>

दलित आलोचक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित विमर्श की दृष्टि से सिद्ध किया है; 'इसी प्रकार दलितों ने हजारों वर्ष की सामाजिक यातना में जो भोगा है, उनके जो अनुभव हैं, उन्हें गैर-दलित जान ही नहीं पाता है। इसलिए उसकी पीड़ा के साक्षात्कार की उनकी कल्पना अधूरी होती है। यही वजह है कि हिन्दी साहित्य में दलितों की पक्षधरता का दम्भ भरने वाले लेखकों की रचनाएँ सिर्फ सहानुभूतिपरक या फिर करुणाजन्य होती हैं, किसी बदलाव की प्रक्रिया को तीव्रता देने के लिए नहीं। बदलाव तथा क्रान्ति की स्थितियाँ आने से पूर्व ही या तो ऐसे रचनाकार पाला बदल लेते हैं या फिर यथास्थिति बनाए रखने में मदद देते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' का सूरदास हो या गिरिराज किशोर के 'परिशिष्ट' का नायक, परिवर्तन बिन्दु पर पहुँचते ही वे पलायन कर जाते हैं या समझौता करके आदर्शवाद का उदाहरण बन जाते हैं। यही स्थिति 'धरती धन न अपना' (जगदीश चन्द्र) में भी है। तमाम सम्भावनाओं और संघर्षशील चरित्र की उम्मीदों के बीच नायक अचानक पलायन कर जाता है। अमृत लाल नागर का मशहूर उपन्यास 'नाच्यो बहुत गोपाल' में भी लेखक अंततः ब्राह्मणवादी संस्कार से बाहर नहीं निकल पाया है।'<sup>49</sup>

दलित लेखक इन स्थितियों का सामना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दलितों की पीड़ा दलित ही समझ सकता है, वही उस पीड़ा का प्रामाणिक प्रवक्ता भी है। 'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव इस तथ्य को स्वीकारते हैं। उनका कहना है कि 'दलित लेखकों की यह जिद है कि नुमाइन्दगी या प्रतिनिधित्व की यह राजनीति बहुत दूर और देर तक उनकी बात नहीं कह सकती। दुनिया का कोई वकील, अपनी सारी निष्ठा और ईमानदारी या कानूनी पैतरेबाजी के बावजूद वादी की तड़प, यातना और गुस्से को नहीं बता सकता, जितना वे स्वयं व्यक्त कर सकते हैं।'<sup>50</sup> डॉ० तुलसीराम दो तथ्य को दलित साहित्य का मूल मन्त्र मानते हैं। एक है, बौद्ध दर्शन और दूसरा है, अंबेडकर का दर्शन तथा उनका संघर्ष; इन दोनों के मिश्रण से दलित साहित्य जन्मा है। जो भी इन दोनों को अपनाएगा, वह दलित साहित्यकार कहलाएगा।<sup>51</sup> दलित साहित्य की अवधारणा की विशिष्टताओं को ओम प्रकाश वाल्मीकि के निष्कर्षों से समझा जा सकता है। प्रमुख बिन्दु हैं:-

1. मुक्ति और स्वतन्त्रता के सवालों पर डॉ० अंबेडकर के दर्शन को स्वीकार करना।
2. बुद्ध का अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टिबोध, पाखंड-कर्मकांड विरोध।
3. वर्ण-व्यवस्था विरोध, जातिभेद-विरोध, साम्प्रदायिकता विरोध।
4. अलगाववाद का नहीं, भाईचारे का समर्थन।
5. स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता।
6. सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्धता।
7. आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद का विरोध।
8. सामन्तवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध।
9. अधिनायकवाद का विरोध।
10. महाकाव्य की रामचन्द्र शुक्लीय परिभाषा से असहमति।
11. पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र का विरोध।
12. वर्णविहीन, वर्गविहीन समाज की पक्षधरता।
13. भाषावाद, लिंगवाद का विरोध।<sup>52</sup>

लेखकीय चेतना और सामाजिक-राजनीतिक चेतना के बीच गहरा अंतर्संबंध है जो विचार, तर्क और स्थापना, सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में राजनीति को प्रेरित करते हैं, वे लेखन को भी प्रेरित करते हैं। यदि दलित राजनीति के

प्रेरणा पुरुष डॉ० अंबेडकर हैं, तो दलित साहित्य में भी उन्हीं के विचारों की प्रतिष्ठा है। दलित साहित्य का मुखर स्वर वही है, जो सामाजिक विभेद, वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मणवादी नैतिकता, सामाजिक संरचनात्मक अन्याय और शोषण के विरुद्ध तैयार हुई विचार प्रक्रिया से निर्मित हुआ है। क्योंकि दलित चेतना विरोध और प्रतिकार की चेतना है, इसलिए दलित साहित्य भी विरोध और प्रतिकार का साहित्य है। प्रतिकार की चेतना का संवाहक होना ही इसका सौंदर्य है।

हजारों साल के ऐतिहासिक परिदृश्य में दलितों ने जो सामाजिक उत्पीड़न सहा है, विषमताएं झेली हैं, भेदभाव और शोषण ने उसके मस्तिष्क पर जो गहरी रेखाएं खींची हैं, ऐसी वर्ण-व्यवस्था से उपजी विषमताओं और विसंगतियों को दृष्टि में रखकर ही दलित साहित्य का विश्लेषण करके सौंदर्यशास्त्र और साहित्यिक मूल्यांकन के अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। साहित्यिक सृजन दलित जीवन के यथार्थ को प्रतिबिम्बित करने के साथ ही उसे पहचानने का भी एक साधन है। साहित्य और कला के प्रति यह दृष्टिकोण सामाजिक व्यवस्था में साहित्य के महत्व का उचित मूल्यांकन भी है। दलित साहित्य के दलित जीवन का यथार्थवादी चित्रण यथार्थ की मात्र नकल नहीं है, बल्कि साधारण परिस्थितियों के साधारण चरित्रों का वास्तविक पुनर्सृजन है। ओम प्रकाश वाल्मीकि सचेत करते हैं: "दलित साहित्य के मूल्यांकन से पूर्व परम्परावादी समीक्षकों को भारतीय समाज-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, जातिभेद, जाति संघर्ष, विषमताओं, भेदभावों, सामंती सोच, ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण, अन्तर्विरोधों, आर्थिक, सामाजिक भारतीय मनःस्थितियों, सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों का विश्लेषण करना होगा; भारतीय राजनीति को समझकर साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन करना होगा। तभी दलित साहित्य का सही और यथार्थ मूल्यांकन हो पाना संभव होगा।"<sup>53</sup> अन्ततः कहा जा सकता है कि दलित साहित्य परिवर्तनकामी साहित्य है, जो प्रत्येक व्यक्ति के गरिमामयी व्यक्तित्व और समाज में समता एवं बंधुता के लिए कृतसंकल्प है।

इन विश्लेषणों से दलित साहित्य का व्यापक स्वरूप उभरता है। जिससे दलित साहित्य की दृष्टि और अवधारणा को संक्षेप में निर्दिष्ट किया जा सकता है:-

- दलित साहित्य डॉ० अंबेडकर के विचार चिंतन तथा अन्य परिवर्तनकामी प्रतीकों से जुड़कर विकसित हुआ है।
- दलित साहित्य के केन्द्र में ईश्वर के अस्तित्व का पूर्णतः नकार और मानव मात्र की समानता प्रमुख है।
- वर्ण-व्यवस्था का जड़ से खात्मा और सामाजिक परिवर्तन मुख्य लक्ष्य है।
- साहित्य को जांचने का आधार वर्ग के बरक्स 'वर्ण' और 'जाति' है।
- पितृसत्तात्मक व्यवस्था को नकारकर स्त्री स्वातंत्र्य और अधिकारों के प्रति प्रतिबद्धता दलित साहित्य का दायित्व है।
- बने-बनाए मानदंडों एवं मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन दलित विमर्श का मुख्य आधार है।
- यहां प्रामाणिकता की पहली शर्त भोगे हुए यथार्थ का स्वयं द्वारा रेखांकन है।
- दया और सहानुभूति का प्रतिरोध तथा वेदना का आक्रोश में रूपांतरण है।
- दलित अस्मिता की स्थापना और उसकी हीनता ग्रंथि को तोड़ना पहला मकसद है। 'दलित आत्मकथाएं' इसका सशक्त प्रमाण हैं।
- पुरानी अवधारणाओं, मान्यताओं तथा मानदंडों को नकारकर दलित संस्कृति को विकसित और समृद्ध करना दलित साहित्य का मुख्य दायित्व है।
- डॉ. अंबेडकर की 22 प्रतिज्ञाएं दलित साहित्य आंदोलन की उत्प्रेरक आधार स्तंभ हैं।
- मानवीय गरिमा, आत्मसम्मान, अधिकार, भागीदारी, न्यायपूर्ण व्यवस्था सुनिश्चित कराना दलित साहित्य आंदोलन का मुख्य ध्येय है।
- समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की स्थापना दलित साहित्य का मुख्य उद्देश्य है।
- हिंसा और घृणा के बरक्स अहिंसा और करुणा की प्रस्तावना दलित साहित्य का मुख्य सरोकार है।

संदर्भ :

1. डॉ० तुलसी राम, दलित साहित्य की अवधारणा (लेख), उद्धृत चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य: सं० डॉ० बेचैन और डॉ० चौबे, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, पृ० 59
2. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित चेतना और हिंदी कथा साहित्य (लेख), समकालीन जनमत, वर्ष: 21, अंक: 4, अक्टूबर-दिसम्बर 2002, पटना, पृ० 50
3. डॉ० अंबेडकर वाङ्मय खंड 9, पृ० 21-22
4. उद्धृत साहित्य का सौंदर्यशास्त्र: ओम प्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ० 13
5. वही, पृ० 13

6. वही, पृ० 14
7. वही, पृ० 15
8. शरण कुमार लिंबाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, अनु०-रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000, पृ० 38
9. उद्धृत-अनटचेबल्स! वायसेज ऑफ द दलित लिबरेशन मूवमेंट, नई दिल्ली, 1986, एडि०, बरबरा आर० जोशी, पृ० 79
10. उद्धृत साहित्य का सौंदर्यशास्त्र: ओम प्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ० 13
11. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित चेतना और हिंदी कथा साहित्य (लेख) समकालीन जनमत, पृ० 52-53
12. एलिनॉर जिलियट, 'फ्रॉम अनटचेबल टु दलित' में संकलित लेख-दलित...न्यु कल्चरल कान्टेक्सट फॉर ऐन ओल्ड मराठी वर्ड, मनोहर पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1992, पृ० 267
13. डॉ० चंद्र कुमार वरुडे, दलित साहित्य आंदोलन, रचना प्रकाशन, जयपुर, 1997 पृ० 57
14. उद्धृत, वही, पृ० 58
15. वही, पृ० 59
16. उद्धृत, ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ० 30-31
17. वही, पृ० 30
18. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 29-30
19. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास
20. ओम प्रकाश वाल्मीकि, कल के लिए (त्रयमासिक पत्रिका): एक साक्षात्कार से उद्धृत दिसम्बर, 1998, पृ० 17
21. राम स्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986, पृ० 19
22. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका प्रो० मैनेजर पांडेय, पृ० 15, ह० सा० अकादमी, चंडीगढ़, 1989
23. 'त्वचा में और उसके परे' (लेख), राज किशोर, औरत उत्तर कथा (हंस), नव०-दिस० 94, पृ० 31
24. 'हिंदी समीक्षा और दलित साहित्य' (लेख), ओम प्रकाश वाल्मीकि, संचेतना, दिल्ली, जून 1999, पृ० 11
25. 'दलित साहित्य का आंदोलन और हिंदी क्षेत्र', (लेख) शिव कुमार मिश्र, नया पथ, जुलाई-सित० 1997, पृ० 97
26. वही, पृ० 97
27. दलित साहित्य: स्वरूप और प्रयोजन, शरण कुमार लिंबाले, उद्धृत 'चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य' सं० डॉ० बेचैन और डॉ० चौबे, पृ० 68
28. वही, पृ० 68
29. नारायण सुर्वे, दलित साहित्य और बाबा साहब डॉ० अंबेडकर (लेख), अनु०-अरुंधती देवस्थले, हंस, अक्टूबर 1992, पृ० 22
30. शरण कुमार लिंबाले, 'हमें दया नहीं अधिकार चाहिए' (एक साक्षात्कार), हंस/दिस० 95, पृ० 33
31. ओम प्रकाश वाल्मीकि (अध्यक्षीय भाषण), अंगुत्तर, अक्टू०-नव०-दिस० 1993, अंक-1, नागपुर, पृ० 14
32. ओम प्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र से उद्धृत, पृ० 30
33. वही, पृ० 22
34. वही, पृ० 30
35. वही, पृ० 30
36. उद्धृत, दलित निर्वाचित कविताएं, सं. कंवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006, पृ. सं. 107
37. कविताएं ओमप्रकाश वाल्मीकि, बस्स! बहुत हो चुका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997, पृ० 13
38. कंवल भारती, तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1999, पृ. सं. 53
39. उद्धृत, दलित निर्वाचित कविताएं, सं. कंवल भारती, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006, पृ. सं. 51
40. प्रामाणिक हिंदी कोश, रामचंद्र वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
41. 'चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य' से उद्धृत, पृ० 64
42. उद्धृत, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र ओम प्रकाश वाल्मीकि, पृ० 24
43. वही, पृ० 64-65
44. 'चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य' से उद्धृत, पृ० 70
45. वही, पृ० 70-71
46. द० सा० का सौंदर्यशास्त्र से उद्धृत, पृ० 25
47. वही, पृ० 34
48. वही, पृ० 36
49. वही, पृ० 36-37
50. वही, पृ० 37
51. 'चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य' से उद्धृत पृ० 66
52. द० सा० का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 31
53. वही, पृ० 47